ही कर सकता है। जहाँ शब्दों के परिवर्तन की आवश्यकता नहीं होती, वह शब्द पाक वाला काव्य है। जहाँ रस, गुण, एवं अलङ्कारों का सुन्दर क्रम होता है, वही काव्य पाक है।

राजशेखर द्वारा उल्लिखित पाक सम्बन्धी सभी मतों में एक क्रम है, जिसमें उत्तरोत्तर पक्ष बलीयान् एवं उनके द्वारा समर्थित है। विशिष्ट शब्द पाक है, कविकृत निष्कम्प पद पाक है, सहृदय गृहीत अपरिवर्तनीय पद पाक है, सरस वाक्य पाक है 'यद्यपि राजशेखर ने गुण अलङ्कार के सौन्दर्य को भी सम्मिलित कर रसोचित वाक्य को पाक कहा है,'[१७] किन्तु इससे स्पष्ट है कि उन्होंने अवन्तिसुन्दरी के मत का ही सर्वोत्तर प्रस्तुत पाक विषयक विचार का समर्थन किया है।

अवन्तिसुन्दरी के पाक सम्बन्धी इस मत को परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने भी स्वीकार किया है। विद्याधर ने अपने काव्यशास्त्र ग्रन्थ एकावली में पूर्व-पूर्व आचार्यों के मतों का उल्लेख करके की गई पाकचर्चा के अन्तर्गत अवन्तिसुन्दरी के ही मत को स्वीकार करते हुए ''रसोचित शब्दार्थ निबन्धन को पाक कहा है।''[१८]

अवन्तिसुन्दरी का दूसरा मत काव्य की सरसता व नीरसता में कवि-शक्ति को सर्वथा समर्थ और स्वतन्त्र स्वीकार करने के सम्बन्ध में है। कवि-शक्ति जिसका अपर नाम प्रतिभा भी है इसकी विस्तृत काव्यशास्त्रीय परम्परा प्राप्त होती है जिसमें आचार्य भामह[१९], दण्डी[२०], राजशेखर इत्यादि प्रमुख हैं। आचार्य मम्मट भी काव्यहेतुत्व में इसे महत्त्वपूर्ण परिगणित करते हैं, जिसके अभाव में काव्य-सृजन सम्भव नहीं [२१]।

काव्यमीमांसीय नवम अध्याय में अनेक विषयों की सूक्ष्म आलोचना के साथ ही अर्थ की व्यापकता और उसके अवान्तर विषयों, यथा-धर्म या विषय के प्रकार, कवियों का वर्णनीय विषय, काव्य रचना में सरसता, नीरसता, मुक्तक, प्रबन्ध, भाषा, ज्ञान इत्यादि का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। राजशेखर काव्य रचना में सरसता तथा नीरसता के सम्बन्ध में अपने विचार को व्यक्त करते हैं कि किसी भी विषय का स्वरूप निर्धारण स्वयं कवि पर निर्भर करता है। कवि की सरसता तथा नीरसता काव्य की सरसता तथा नीरसता का आधारभूत है। राजशेखर इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम भट्टलोल्लट का मत विषय को विश्लेषित करने के अभिप्राय से प्रस्तुत करते हैं। भट्टलोल्लट के अनुसार ''काव्य में अर्थ-समूह चाहे सीमा रहित हो, परन्तु रसवत् काव्य का ही निबन्धन होना चाहिए, नीरस विषय का नहीं।''[२२] उनके अनुसार कविगण काव्य में जलक्रीड़ा, पुष्पावचय, सन्ध्या, चन्द्रोदय आदि का अतिशयता से वर्णन करते हैं, जो सरस न होकर मात्र उनकी काव्य-रचना-शक्ति का प्रचार मात्र होता है। इस प्रकार के विविधविषयों के वर्णन रसाभिव्यक्ति में अवरोध उत्पन्न करते हैं। इस कारण काव्य में आवश्यकता से अधिक इनका वर्णन करना अनुचित है। इसी प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन भी रसोचित सन्निवेश का कथन करते हैं। इसके विपरीत कवि का समस्त व्यापार शब्दगुम्फन के प्रति नीरस उद्वेगकारी सिद्ध होता है [२३]।

१७. 'कार्यानुमेयतया यत्तच्छब्दनिवेद्य: परं पाकोऽभिधाविषयस्तत्सहृदय-प्रसिद्धिसिद्ध एव व्यवहाराङ्गमसौ' इति यायावरीय:। काव्यमीमांसा अध्याय ५ पृ०सं० ५०

१८. पाकस्तु रसोचित शब्दार्थ निबन्धनम्। एकावली, पृष्ठ 22

१९. काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावत: । काव्यालंकार १/५

२०. नैसर्गकी च प्रतिभा, श्रुतं च बहु निर्मलम् । असन्दश्चाभियोगोऽस्या: कारणं काव्य-सम्पद: ।। काव्यादर्श १/१०३

२१. शक्ति: कवित्वबीजरूप: संस्कारविशेष: यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्। काव्यप्रकाश १/३ की वृत्ति

२२. अस्तु नाम नि:सीमार्थसार्थ:। किन्तु रसवत् एवं निबन्धो न नीरसस्य इति अपराजिति:। काव्यमीमांसा ९ पृष्ठ ११३

२३. रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् । ध्वन्यालोक पृष्ठ २०८

राजशेखर लोल्लट के इस कथन का समर्थन करते हैं। साथ ही अपने मत को भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ''प्रतिभाशाली कवि किसी भी अर्थ को सरस बनाने में सक्षम होता है। इसमें विपरीत प्रतिभा रहित कवि सरस अर्थ को भी नीरस बना देता है।'' [२४] तात्पर्य यह है कि किसी भी विषय में सरसता हो या न हो कवि की वाणी में रस होना चाहिए। इसी से सम्बद्ध द्वितीय मत के रूप में पाल्यकीर्ति के मत को उद्धृत करते हैं। जैन आचार्य पाल्यकीर्ति के अनुसार 'वस्तु का स्वरूप कैसा भी हो सरसता नीरसता कवि की प्रकृति पर आधारित होती है। क्योंकि अनुरक्त व्यक्ति जिस वस्तु की प्रशंसा करता है, विरक्त व्यक्ति उसी की निन्दा करता है तथा मध्यस्थ इस सम्बन्ध में उदासीन रहता है।'[२५]

इस विषय में अवन्तिसुन्दरी का अपना विशिष्ट मत है। उनके अनुसार प्रत्येक वस्तु अनियत स्वभाव वाली होती है अर्थात् न तो वह गुणयुक्त होती है न ही दोषयुक्त। कवि की प्रतिभा ही उसमें गुणदोषों को उत्पन्न करती है। **विदग्ध-भणिति-भंगिनिवेद्यं वस्तुनो रूपं नियम-स्वभावम्**[२६] अर्थात् विदग्ध कवि के वचन ही किसी काव्य के गुण या दोष युक्त स्वरूप का निर्धारण करते हैं। अपने कथन की पुष्टि के लिए वह उदाहरण देती हैं कि ''चन्द्रमा की स्तुति करने वाला उसे अमृतांशु कहता है जबकि निन्दा करने वाला उसके लिए दोषाकर आदि शब्दों का प्रयोग करता है। वस्तुत: प्रत्येक कवि अपनी दृष्टि और अपनी वर्णन कुशलता के अनुरूप काव्यरचना करता है। इसी कारण भिन्न-भिन्न कवियों के द्वारा किया गया एक ही विषय का वर्णन भिन्न होता है।''[२७]

आनन्दवर्धन ने भी इसी मत से सहमति व्यक्त करते हुए एक उक्ति उद्धृत की है कि 'कवि काव्य जगत् का प्रजापति होता है, जो जैसी इच्छा करता है, काव्य में उसी प्रकार विश्व को बदल देता है। इसलिए पूर्णरूप से रस में तत्पर कवि की ऐसी कोई वस्तु नहीं हो सकती जो उसकी इच्छा से उसके अभिमत रस का अंग न बन पाए।'[२८] दशरूपककार धनञ्जय भी वस्तु को अनियत स्वभाव वाला ही स्वीकारते हैं, उनके अनुसार 'वस्तु कैसी भी हो, यदि कवि श्रेष्ठ है, तो उसके द्वारा निविष्ट पर वह रसरूपता को प्राप्त होगी।'[२९] डॉ० वी० राघवन ने भी काव्यवस्तु को अनियत स्वभाव तथा काव्यगत गुण-दोषों की नियामिका कवि प्रतिभा को स्वीकार करते हुए अवन्तिसुन्दरी के मत का समर्थन किया है, तथा काव्यगत औचित्य की दृष्टि से उसे प्रशस्य माना है।[३०]

---

२४. आम् इति यायावरीय:, अस्ति चानुभूयमानो रसस्यानुगुणो विगुणश्चार्थ:, काव्ये तु कविवचनानि रसयन्ति विरसयन्ति च नार्था: अन्वयव्यतिरेकाभ्यां चेदमुपलभ्यते। काव्यमीमांसा ९ पृष्ठ ११३

२५. यथा तथा वास्तु वस्तुनो रूपं, वक्तुप्रकृति विशेषायत्ता तु रसवत्ता तथा च यमर्थ रक्त: स्तौति तं विरक्तो विनिन्दति मध्यस्थस्तु तत्रोदास्ते इति पाल्यकीर्ति:। काव्यमीमांसा ९ पृष्ठ ११६

२६. काव्यमीमांसा ९ पृष्ठ ११६

२७. वस्तुस्वभावोऽत्रकवेरतन्त्रो गुणागणावुक्तिवशेनकाव्येस्तुवन्निबन्धनात्यमृतांशुमिन्दुनिन्दंस्तु दोषाकरमाहधूर्त: ।। वही, ९ पृष्ठ ११६,

२८. अपारेकाव्यसंसारेकविरेक: प्रजापति:। यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।। तस्मान्नास्त्येव तद्वस्तु यत्सर्वात्मना रसतात्पर्यवत: कवेस्तदिच्छया तदभिमतरसाङ्गतां न धत्ते। ध्वन्यालोक, ३

२९. रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीचमुग्रं प्रसादि गहनं विकृतं च वस्तु। यद्वाप्यवस्तु कवि भावकभाव्यमानं तन्नास्ति चन्न रसभावमुपैतिलोके ।। दशरूपक, 4/85.

३०. The idea of Aucitya as adaption, the idea that in poetry there is no fixed rule determining Guna and Dosa and that things are good or bad only on the ground of appropriateness or inappropriateness -------- Rajsekhara's wife also lays great emphasis on Aucitya- Some Concepts of Alankara-sastra, Page, 226,

अवन्तिसुन्दरी का तीसरा काव्यशास्त्रीय मत कवि द्वारा अपने पूर्ववर्ती कवियों के काव्यों से किये गये शब्दार्थ के अनुहरण से सम्बद्ध है। वे अनुहरण में कोई दोष या अनौचित्य नहीं मानती हैं। कालिदास (ई.पू.प्रथम शती), अश्वघोष (ई. प्रथम शताब्दी) इत्यादि की रचनाओं में भावों और शब्दों का साम्य देखा जाता है लेकिन इसे काव्यचौर्य नहीं कहा जाता। यथा कुमारसम्भव में कालिदासोक्त **'मार्गचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ'** तथा सौन्दरनन्द में अश्वघोषोक्त **'सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तरंगस्तरंगेष्विवराजहंसः'** में **"न ययौ न तस्थौ"**॥ ये दोनों प्रयोग ही सहृदयहृदयाह्लादक हैं।

कविवर बाणभट्ट इस विषय में कुछ कठोर हैं। उन्हें यह वर्ण, छन्द परावृत्ति उपयुक्त प्रतीत नहीं होती। इसे वे काव्य चोरी मानते हैं- **अन्यवर्णपरावृत्त्या बन्धचिह्ननिगूहनैः।**
अनाख्यातः सतां मध्ये कविश्चौरो विभाव्यते॥ हर्षचरित १/६

एवमेव पण्डितराज जगन्नाथ भी दूसरे कवि के लक्षण, लक्ष्य और उदाहरणों का अनुहरण न करके स्वयं रचित उदाहरणों के व्याज से गौरवान्वित होते हैं-

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं, काव्यं मयाऽत्र निहितं न परस्य किञ्चित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः, कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण॥ रसगंगाधर १/६

राजशेर भी शब्दहरण को काव्य-चोरी न कह कर उसकी समीचीनता प्रतिपादित करते हैं तथा शब्दहरण के पाँच प्रकार बताते हैं -

(१) पद हरण,
(२) पादहरण,
(३) अर्थहरण,
(४) वृत्त हरण,
(५) प्रबन्ध हरण।

प्रथम पद हरण के विषय में अन्य आचार्यों के मत को वे उद्धृत करते हैं- **'तत्रैक पदहरणं न दोषाय'** इति आचार्याः[३१] अर्थात् एक पद का हरण दोष नहीं कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में राजशेखर का भी अपना विचार है कि यदि यह पद दो अर्थों वाला हो तो दोष नहीं है **'अन्यत्र द्वयर्थपदात्' इति यायावरीयः।**[३२] परन्तु अन्य प्रकार के हरणों को मान्यता प्रदान करने पर एक प्रश्न उपस्थित होगा कि यह हरण भी तो एक प्रकार की चोरी है, अतः इसका उपदेश नहीं करना चाहिए[३३], क्योंकि कहा भी गया है-

पुंसः कालातिपातेन चौर्यमन्यद्विशीर्यति।
अपि पुत्रेषु पौत्रेषु च वाक्चौर्यं न शीर्यति॥ [३४]

अर्थात् अन्य चोरियों का लाञ्छन तो समय व्यतीत होने से नष्ट हो जाता है, परन्तु वाक् (काव्य) की चोरी का लाञ्छन पुत्रों-पौत्रों पर्यन्त नष्ट नहीं होता है।

३१. काव्यमीमांसा अध्याय ११ पृष्ठ सं १३८
३२. काव्यमीमांसा अध्याय ११ पृष्ठ सं १३८
३३. नन्विदमुपदेश्यमेव न भवति। काव्यमीमांसा अध्याय १९ पृष्ठ सं.-१४२
३४. काव्यमीमांसा अध्याय ११ पृष्ठ सं १४२

अवन्तिसुन्दरी शब्दहरण को पातक न मानती हुई कवियों द्वारा शब्द हरण किए जाने के नौ कारणों को प्रदर्शित करती हैं–

अयमप्रसिद्धः प्रसिद्धिमानहम्– अर्थात् यह कवि अप्रसिद्ध है और मैं प्रसिद्ध हूँ। अतः मेरी रचना से सभी परिचित होंगे, इसकी रचना से अनभिज्ञ होंगे।

अयमप्रतिष्ठः प्रतिष्ठावानहम्– यह कवि अप्रतिष्ठित है, में प्रतिष्ठावान् हूँ अतः मैं प्रचारादि के माध्यम से काव्य को जनसामान्य को सुलभ करा सकूँगा, किन्तु अप्रतिष्ठित कवि के लिए सरल नहीं।

अप्रक्रान्तमिदमस्य संविधानकं प्रकान्तं मम– अर्थात् इस कवि का विषय अप्रचलित है और मेरा प्रचलित है।

गुडूचीवचनोऽयं मृद्वीकावचनोऽहम्– इसका काव्य गुडूची-पाक (कटु, अधम) है, तथा मेरा काव्य द्राक्षापाक (मधुर, उत्तम) है।

अनादृतभाषा विशेषोऽयमहमाहतभाषाविशेषः– यह अनावृत (दूसरी) भाषा का कवि है तथा मैं आदृत भाषा का कवि हूँ।

प्रशान्तज्ञातृकमिदम् – इस काव्य को जानने वाले प्रायः विलुप्त हो चुके हैं।

देशान्तरितकर्तृकमिदम्– इस काव्य का कर्ता दूसरे देश का है।

अच्छिन्ननिबन्धनमूलमिदम्– इस रचना का मूल ही नष्ट हो गया है।

म्लैच्छितकोपनिबन्धनमूलमिदम्[३५] – इस काव्य की रचना का मूल म्लेच्छ भाषा में हैं जो सम्प्रति अप्रासांगिक है।

इन नौ कारणों से यदि कोई कवि अपनी काव्यरचना के सौन्दर्य एवं प्रतिष्ठा आदि के लिए किसी शब्द का या अर्थ का हरण करता है तो वह अनुचित नहीं है।[३६] वस्तुतः यह सर्वथा व्यावहारिक मत है। इससे महिला काव्यशास्त्री अवन्तिसुन्दरी की सन्तुलित, निष्पक्ष एवं स्वतन्त्र व्यापक दृष्टि ज्ञात होती है।

काव्यमीमांसा के प्राप्त प्रथम अधिकरण में ही तीन अध्यायों में अवन्तिसुन्दरी के काव्यशास्त्रीय विचार प्रतिपादित हैं, निश्चित रूप से अन्य अधिकरणों में भी इनके काव्यशास्त्रीय विषयक स्वतन्त्र विचार रहे होंगे जो ग्रन्थ के पूर्णतः उपलब्ध न होने से अप्राप्य ही हैं। इसके अतिरिक्त ऐसी श्रेष्ठ विचारक अवन्तिसुन्दरी का कोई काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ भी अवश्य रहा होगा जो दुर्भाग्य से सम्प्रति अनुपलब्ध है। काव्यशास्त्र की प्रवाहमाण अद्यतन धारा में आचार्यों की तो उपस्थिति प्रचुरमात्रा में है किन्तु किसी महिला विदुषी विशेषतः काव्यशास्त्रीय विचारों का प्रतिपादन करने वाली अवन्तिसुन्दरी पहली आचार्या के रूप दृष्टिगोचर होती हैं। सम्भवतः तत्कालीन सामाजिक और सामयिक परिस्थितिजन्य वातावरण महिलाओं के रचना कौशल के अनुकूल नहीं रहा होगा। महिलाएँ संस्कृत जगत् में नाटक उपन्यास, सम्पादन आदि विधाओं में आज भी अपनी लेखनी का प्रभावी प्रयोग प्रस्तुत कर रही हैं परन्तु काव्यशास्त्रीय क्षेत्र अधुनातन प्रतिभा वृष्टि का आकाँक्षी ही है।

---

३५. काव्यमीमांसा अध्याय ११ पृष्ठ सं १४२

३६. इत्यादिभिः कारणैः शब्दहरणेऽर्थहरणे चाभिरमेत इति अवन्तिसुन्दरी। काव्यमीमांसा अध्याय ११

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. कर्पूर मञ्जरी, राजशेखरः, संपा० चुन्नीलाल, साहित्य भण्डार, मेरठ, १९७२,

२. काव्यमीमांसा, राजशेखरः, संपा० सी०डी० दलाल व अन्य, तृतीय संस्करण, बडौदा, १९३४,

३. एकावली (मल्लिनाथ कृत तरला सहिता), विद्याधर, संपा० कमलाशंकर प्राणशंकर द्विवेदी, बम्बई संस्कृत सीरीज नं० ६३, बम्बई, १९०३ ई०

४. दशरूपकम्, धनञ्जय, संपा० श्रीनिवास शास्त्री, मेरठ, १९७९ ई०,

५. History of Sanskrit Poetics, P.M. Kane, 3rd edition, Motilal Banarasidas, Delhi, १९६१.

६. Some Concepts of Alankara Shastra, V. Raghavan, The Adyar library Madras, १९४२.

७. कालिदासकाव्ये शब्दपरिपाकः, डॉ० नित्यानन्द, हेमन्त प्रकाशन दिल्ली, १९७७

८. महाकवि-अश्वघोषकृत सौन्दरनन्द महाकाव्य, व्याख्याकार आचार्य जगदीशचन्द्र मिश्र,चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, २०१०

९. कालिदास-ग्रन्थावली (कुमारसम्भवम्), व्याख्याकार पं० श्रीरामतेज शास्त्री, सम्पादक डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी,२०१४

१०. हर्षचरित- बाणभट्ट, हिन्दी व्याख्याकार पं० श्री जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, १९९४

११. रसगंगाधर, हिन्दी व्याख्याकार पं० श्रीमदनमोहन झा, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, २००३

१२. काव्यादर्श, व्याख्याकार पं० श्रीशिवनारायण शास्त्री, परिमल पब्लिकेशन्स दिल्ली, २००२

१३. काव्यालङ्कार आचार्य भामह, व्याख्याकार डॉ० रमण कुमार शर्मा, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली २०१५

१४. ध्वन्यालोक आचार्य आनन्दवर्धन, व्याख्याकार आचार्य जगन्नाथ पाठक चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी , २०१४

-अनुसन्धात्री
संस्कृत-विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री प्रणीत संस्कृत साहित्य

-डॉ. राजेन्द्र गौतम

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की दीर्घ रचना-यात्रा का प्रथम दशक प्रमुखतः संस्कृत साहित्य-सर्जना का रहा। संस्कृत भाषा और साहित्य के गहन अध्ययन की छाया उनकी पचास से अधिक हिन्दी कृतियों पर भी पड़ी है। जानकीवल्लभ का जन्म 'गया' जनपद में स्थित मैगरा गाँव में माघ शुक्ल द्वितीय वि० संवत् १९७३ (५, जनवरी १९१६) को हुआ। उनके पिता पण्डित रामानुग्रह शर्मा ने प्रसिद्ध वैयाकरण पण्डित चन्द्रशेखर भट्ट के पास बारह वर्ष तक अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया था। वे बेटे को भी इन विषयों में पारंगत बनाना चाहते थे। वे स्वभाव से क्रोधी थे। जानकीवल्लभ की शिक्षा भी उन्होंने इसी दुर्वासा-मुद्रा में आरम्भ की। मैगरा में ही वे शारदा-संस्कृत-विद्यालय संचालित करते थे। जानकीवल्लभ ने ग्यारह वर्ष की आयु में प्रथमा (संस्कृत) की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास कर छात्रवृत्ति प्राप्त की। गोविन्द-संस्कृत-विद्यालय दधपा, (गया) से उन्होंने सन् १९२९ ई० में साहित्य और व्याकरण में मध्यमा की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की, १९३२ ई० में 'बिहार-उड़ीसा संस्कृत एसोसियेशन' द्वारा संचालित 'शास्त्री' की परीक्षा प्रथम श्रेणी और प्रथम स्थान के साथ उत्तीर्ण की। अठारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने साहित्याचार्य की परीक्षा पास की। उन्हें बिहार और उड़ीसा भर में सर्वप्रथम आने के कारण स्वर्ण पदक प्राप्त हुआ। दधपा में उन्हें पण्डित दामोदर मिश्र ने अल्पावस्था में ही 'सिद्धान्तकौमुदी, मनुस्मृति, बाल्मीकि रामायण, किरातार्जुनीय, स्वप्नवासवदत्तम् और वाग्भटालङ्कार जैसे क्लिष्ट ग्रन्थ अक्लिष्ट भाव से पढ़ा कर निष्णात कर दिया। १९३४ में उनकी पदक-उपलब्धि शृंखला का एक और स्वर्णिम अध्याय लिखा गया। बिहारोत्कल-संस्कृत-समिति की साहित्याचार्य की परीक्षा में उन्हें प्रथम स्थान, प्रथम श्रेणी और स्वर्ण पदक प्राप्त हुए। इस समिति की पदक-प्रदान की विशेष परिपाटी थी। दीक्षान्त-समारोह मिथिला के पण्डितों की उपस्थिति में दरभङ्गा-नरेश के दरबार में आयोजित होता था, जिसमें पदकविजेता को पुरस्कार-ग्रहण से पूर्व संस्कृत में एक भाषण देना होता था। शास्त्री जी द्वारा संस्कृत में दिये गए धाराप्रवाह अद्भुत भाषण से पूरी सभा भाव-विभोर हो गई। बाद में तो उनके वाग्विदग्ध संस्कृत भाषणों की यह शृंखला अनवरत चलती रही, जिसका चरमोत्कर्ष उज्जैनी के १९८० में आयोजित कालिदास-समारोह में देखने को मिला।

उन्होंने १९३५ में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय से भी शास्त्री की परीक्षा प्रथम श्रेणी और प्रथम स्थान सहित पास की। 'पूर्व बंग सारस्वत समाज, ढाका' द्वारा सन् १९३५ में ही उन्होंने साहित्यरत्न की परीक्षा में समस्त रिकॉर्ड तोड़ते हुए प्रशस्ति-पत्र और स्वर्ण-पदक प्राप्त किए। उनकी विद्वत्ता और कवित्व से प्रभावित होकर १९३९ में रायगढ़ नरेश चक्रधर सिंह ने उन्हें राजकवि के रूप में अपने राज दरबार में आमन्त्रित किया लेकिन वहाँ वे एक वर्ष ही रहे और फिर मुजफ्फरपुर आकर 'धर्मसमाज संस्कृत कॉलेज' से वेदान्त-शास्त्री और वेदान्ताचार्य की परीक्षाएँ पास कीं। वेदान्ताचार्य परीक्षा में एक पदक इसमें प्रथम स्थान और प्रथम श्रेणी पाने के लिए मिला और दूसरा पूरे प्रान्त में सभी विषयों में प्रथम स्थान पाने के लिए। १९४४ में वे इसी कॉलेज में भाषा और साहित्य के आचार्य नियुक्त हुए।

शास्त्री जी की साहित्य-सर्जना अल्पावस्था में ही आरम्भ हो गई थी। १५-१६ वर्ष की उम्र में उन्होंने अनेक सुमधुर छन्द रच डाले, जिनका प्रकाशन 'संस्कृतम्', 'सुप्रभातम्' और 'सूर्योदयः' पत्रिकाओं में १९३० और ३२ के बीच हुआ। इन आरम्भिक रचनाओं में ही भाषा का अद्‌भुत लालित्य और परिपक्वता है। उनकी पाँच संस्कृत रचनाओं का उल्लेख है। वे हैं:- 'काकली' (गीतिकाव्य), 'वन्दीमन्दिरम्' (खण्डकाव्य), 'लीलापद्मम्' (मुक्तक काव्य), 'सा' (कहानी-संग्रह) और 'प्राच्यसाहित्यम्' (प्रबन्धसंग्रह)। यह विडम्बना ही है कि 'काकली' को छोड़ कर शेष के अंश पत्रिकाओं में तो आते रहे लेकिन ये कृतियाँ पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं हो सकीं। संस्कृत में उन्होंने श्रीहृदयेश, श्रीनिधि और ललितललाम उपनामों से भी रचना की।

शास्त्री जी संस्कृत में काव्य-रचना की पृष्ठभूमि अपने प्रसिद्ध हिन्दी उपन्यास 'कालिदास' की भूमिका में यों स्पष्ट करते हैं:- "संस्कृत में काव्य-रचना तो मेरी प्रकृत भूमि ही थी क्योंकि मेरा आरम्भिक अध्ययन संस्कृत में ही हुआ था। मैं सोलह की उम्र में (सन्-३२ में) 'शास्त्री' हो गया था। संस्कृत में यहाँ-वहाँ लिखने-छपने भी लगा था। सन् -३५ में 'काकली' निकली तो बचपन के उस सुरीले उच्छ्वास को सब ने सराहा। इससे हौसला बढ़ा। मेरी दूसरी संस्कृत काव्य-पुस्तक की तो एक खास पृष्ठभूमि है। मैं सन् '३६ में कुछ दिन लाहौर में था। सुबह-शाम डी०ए०वी० कालेज के होस्टल से रावी के किनारे तक घूमने जाया करता था। भगत सिंह की शहादत मेरे अवचेतन में जगह बनाती चली गई। यों उन दिनों मेरी दिन-चर्या 'मेघदूत' पढ़ने-पढ़ाने की थी। लाहौर में हरेकृष्ण प्रेमी और उदयशंकर भट्ट से प्रायः भेंट हो जाती थी। तब उनसे भगत सिंह और उनके साथियों की चर्चा जरूर चलती थी; भगत सिंह भट्ट जी के छात्र जो रह चुके थे। एक दिन रावी के किनारे सुबह की ऐसी ही एक सैर के दौरान मेघदूत गुनगुनाते समय अचानक एक छन्द मेरे मुँह से निकल गया:

कश्चिदेशोद्धरण-धृतधीः स्वाधिकाराय मत्तः
तारुण्यस्य स्फुरणसमये न्यस्त-भोगाभिलाषः
शीषोन्नत्यै विनतनयनो मुक्तये बद्धदेहः
कारागारे सुचिरवसति स्वेच्छया स्वीचकार ।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति का संघर्ष उस परिवेश में मेरे मन पर छाया हुआ था। बनारस लौटकर मैंने मेघदूत जितने श्लोकों में ही उस समय की संघर्ष-गाथा को प्रस्तुत करती हुई एक पुस्तक पूरी कर दी। यों रची गई थी- 'वन्दीमन्दिरम्'!

शास्त्री जी लिए के संस्कृत केवल पांडित्य का विषय न होकर आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम थी। इसलिए अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भिक आठ-दस वर्षों में उन्होंने प्राचीन काव्य-परम्परा और आधुनिक संवेदनाओं के बीच सेतु स्थापित करते हुए संस्कृत में विपुल साहित्य रचा। उनकी भाषा सहज, भावगर्भित और काव्य-रस से परिपूर्ण रही। उनका मन कालिदास, भर्तृहरि, भवभूति, बाणभट्ट, जयदेव आदि महाकवियों के साहित्य से गहराई से अनुप्राणित तो था परन्तु वे युगबोध से विमुख नहीं थे। इसीलिए उनके संस्कृत काव्य-सृजन में पारम्परिक संस्कृत-काव्य की छटा के साथ-साथ आधुनिक संवेदना भी समाहित है।

उनकी गीतात्मक रचनाओं का संग्रह 'काकली' १९३५ में प्रकाशित हुआ। इसका समर्पण उन्होंने चार वर्ष की अवस्था में ही उन्हें छोड़ जाने वाली माँ अनुपमा को किया है। माँ का यह भावात्मक स्मरण मार्मिक है:-

"अम्ब!

प्रतिबिम्बमपि न दर्शयसि! बाल्ये लाल्यमुपेक्ष्य माँ क्व नुगताऽसि?
किमपराद्धं मयाऽपराद्धं वा क्षमस्व तदा- 'कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।'
हन्त! रुदन्तं विहाय शिशुं माम्प्रस्थितायान्त्वयि तातेनाहन्त्वनिर्विशेषं पोषितस्सुष्ठु
परपुष्टोऽस्मि, अतशृणु, करोमि कामपि काकलीं विकलां, सकले!
यद्यपि 'पक्षपातं' विहाय प्रसरति सेयम्, परम्पश्य 'कुहू' ध्वनेः प्रभावमम्ब! शुक्लपक्षेऽपि
कृष्णपक्षो जायतेऽसन्मुखसुधाकरमण्डले!
विदग्धविहङ्गमा अपि केनापि न शिक्षितां शिशोर्मे सदोषाम्भाषां कथं श्रोष्यन्ति? निर्दोषे!
किन्तु त्वम्...?
त्वन्तु श्रोष्यस्येव! परपुष्टस्यापि (किमन्यत्; दुष्टस्यापि) स्वशिशोः कलुषितामपि वाणीमाकर्ण्य
का नाम न जननी लोकोत्तरानन्दमनुविन्दति? लोकोत्तरे!
तव सेयं काकली परम्परमाऽतः, मातः!

बसन्त पञ्चमी	**अनुपमानन्दनो-**
१९९१}	**जानकीवल्लभः**

("माँ, तू तो अपना प्रतिबिम्ब तक नहीं दिखाती! बचपन में मुझे लाड़-प्यार से वंचित कर, आँखिर कहाँ चली गई? यदि मुझसे कोई अपराध हुआ हो तो मुझे क्षमा कर देना। क्योंकि यह सत्य है-बुरा पुत्र तो हो सकता है, पर बुरी माता कभी नहीं होती। हाय! जब तू मुझ रोते हुए शिशु को छोड़कर चली गई थी, तब पिता ने मुझे पाल-पोस कर पुष्ट किया। अतः सुन! अब मैं भी एक विकल, अस्फुट काकली (टूटी बोली) कर रहा हूँ, हे सबको पालने वाली! यह वाणी पंख टूट जाने पर भी उड़ती चली जाती है। पर देखो माँ! 'कुहू' ध्वनि का कितना प्रभाव है-शुक्लपक्ष में भी, सामने पूर्ण चन्द्रमा होते हुए भी, अन्धकारमय कृष्णपक्ष-सा अनुभव होने लगता है। हे निर्दोषे! चाहे पक्षी कितने भी चतुर हों, मेरे जैसे शिशु की अस्फुट, अशुद्ध भाषा, जिसे किसी ने नहीं सिखाया, वे कैसे समझ पाएँगे? परन्तु तू...? तू तो सुन ही सकती है! क्योंकि कौन-सी माँ है जो अपने ही बच्चे की चाहे वह कितना ही बड़ा या बिगड़ा क्यों न हो, दूषित या अस्फुट वाणी सुनकर भी, लोकातीत आनन्द का अनुभव न करे? अतः हे लोकातीत माँ! यह काकली-- टूटे स्वर में निकली पुकार-- तो तेरे पास परम्परागत रूप से पहुँचती ही है"।)

विद्वज्जगत में, विशेषकर काशी विश्वविद्यालय में 'काकली' का भव्य और व्यापक स्वागत हुआ। इसके लालित्य और माधुर्य की तुलना जयदेव से करते हुए उन्हें 'अभिनव जयदेव' कहा गया। यह कृति संस्कृत गीतिकाव्य के सौष्ठव का उत्तम उदाहरण है। शीर्षक के अनुरूप इसमें स्वरों की मृदुलता, रस-माधुर्य और लयात्मकता का विशेष महत्त्व है। इसमें कवि ने मानव-जीवन और प्रेम की उन क्षणभंगुर, किन्तु जीवन्त अनुभूतियों को व्यक्त किया है, जिन्हें सुनकर लगता है, जैसे आत्मा स्वयं किसी दिव्य वीणा के तारों को छेड़ रही हो। इस छोटी-सी कृति में विषयों की विविधता है। इसमें भक्ति के नैवेद्य, दर्शन की ऊर्ध्वता, चिंतनपरक बौद्धिकता और उपदेशपरकता के साथ प्रकृति और प्रेम सर्वव्यापी हैं। 'हरहारिगानम्' 'पीयूषलहरी,' 'सफलता'

एवं 'वाणीवन्दनम्' जैसे गीतों में भक्ति-धारा प्रवाहित है। सरस्वती-वन्दना में रचा गया 'भारती वसन्तगीति:' बहुत लोकप्रिय हुआ। उन्होंने प्रार्थना की थी कि 'माँ सरस्वती! जिस प्रकार सम्पूर्ण वसुन्धरा की जीर्णता वसन्त के आगमन के साथ समाप्त हो गई है, उसी प्रकार, तुम्हारी नवीन वीणा के निनाद से मानव-मन की जड़ता समाप्त हो जाएगी। अत: तुम अपनी नवीन वीणा बजाओ।'

आधुनिक युग में नवजागरण ने बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में समूचे भारतीय साहित्य को प्रभावित किया। उसका सम्बन्ध काकली के पहले गीत से भी जुड़ता है। उस युग में बांग्ला, हिन्दी और संस्कृत के काव्य में नए झरने की फूटने, नई किरण के स्वागत, नव वसन्त के आगमन, बाल विहंगिनी के गाने और वीणा के नए स्वर फूटने की जो बात रवीन्द्रनाथ टैगोर, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला तथा सुमित्रानन्दन पन्त जैसे कवि कर रहे थे, आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने इसी स्वर में अपना स्वर मिला कर स्वयं को 'अहमस्मि ललितकिरणो नव:' (नई ललित किरण) घोषित किया। अद्‌भुत गीत रचते हुए वे वीणा से नए स्वरों की ऐसी कामना करते हैं:-

निनादय नवीनामये, वाणि! वीणाम्।
मृदुं गाय गीति ललित-नीति-लीनाम्।

मधुरमञ्जरी पिञ्जरीभूतमाला:, वसन्ते लसन्तीह सरसा रसाला:;।

कलापा: ललितकोकिला काकलीनाम्।
निनादय नवीनामये वाणि! वीणाम्।

वहति मन्दमन्दं सनीरे समीरे, कलिन्दात्मजायास्सवानीर तीरे;।

नतां पंक्तिमालोक्य मधुमाधवीनाम्
निनादय नवीनामये वाणि! वीणाम्।

ललितपल्लवे पादपे पुष्पपुंजे, मलयमारुतोच्चुम्बिते मञ्जुकुञ्जे;।

स्वनन्तीन्ततिम्प्रेक्ष्य मलिनामलीनाम्।
निनादय नवीनामये वाणि! वीणाम्।

लतानां नितान्तं सुमं शान्तिशीलम्, चलेदुच्छलेत्कान्तसलिलं सलीलम्;।

तवाकर्ण्य वाणीमदीनां नदीनाम्।
निनादय नवीनामये वाणि! वीणाम्।

विनातांवृथा 'श्रीनिधि' श्रीनिधीनाम्, वसन्तो हसन्मोहिनीं मोहिनीनाम्;।

कथय को विलम्बोऽम्ब! वरवादिनीनाम्।
निनादय नवीनामये वाणि! वीणाम्। (काकली, पृ० १)

(हे वाणी! तुम वीणा को वसन्त की नवीनता में गुंजा दो। उसकी मधुर ध्वनि में कोमलता और ललित भाव का संगीत भर दो। वसन्त का दृश्य देखो-मधुर पुष्पमालाएँ मानो गुच्छों में बँध खिल उठी हैं। आम के पेड़ों पर रस भरा बौर लहराता है। कोयलों की कूजन से वातावरण भर गया है और वह सब मिलकर एक सुन्दर संगीत-समूह रच रहे हैं। हे वाणी, इस समय वीणा को अपनी वाणी से गूँजित करो। नदी के तट पर मन्द-मन्द

पवन बह रहा है। यमुना-कन्या अपने किनारों पर झुकी हुई मधुमालती की कतारों को निहार रही है। वह दृश्य मानो स्वयं एक संगीत की रचना कर रहा है। इसी रस में वीणा को गुंजित करो। पल्लवों से भरे वृक्षों में, पुष्प-पुंजों में, मलय पवन से चूमे हुए सुन्दर कुंजों में एक अद्भुत लय गूँज रही है। भौंरों की गुंजार हवा में भर गई है। उस गुंजार में अपनी वीणा की ध्वनि मिला दो। लताओं के बीच खिले हुए फूल शान्ति का भाव जगा रहे हैं। नदियाँ अपने कान्त जल को खेलते-कूदते हुए बहा रही हैं। जब वे सब तुम्हारी वाणी को सुनेंगी तो और भी पुलकित हो उठेंगी। इस समय वीणा की ध्वनि को नया जीवन दो। कवि 'श्रीनिधि' कहते हैं-यदि वसन्त के इस मोहक अवसर पर तुम्हारी वीणा की गूँज न हो तो यह शोभा व्यर्थ है। स्वयं वसन्तऋतु मोहिनी रूप में हँसती हुई खड़ी है। तो फिर, हे वरदायिनी माँ! देर क्यों? शीघ्र ही वीणा को गुंजित करो।)

महान् दर्शन-ग्रन्थों के अध्ययन के परिणामस्वरूप उनकी आरम्भिक रचनाओं में भी दर्शन की गम्भीरता प्राप्त होती है। 'काकली' की बौद्धिक गरिमा का यही आधार है। वे संसार के वेदनामय यथार्थ को संकेतित करते हुए मनुष्य को इस रूप में चेताते हैं:

'स्वप्नदशामागत्यपश्य ते हन्त जीवनं घ्नन्ति;
किमभूतप्रियं मृगयमाणाः प्राणा मे सदोच्छ्वरान्ति?
सुखदुःखं विस्मृत्य तदात्मा वृथा विमुग्धश्शेते;
किमभूद् दुःखैमे विबोधिता जगत्पदार्थास्ते ते?' काकली, पृ० ३४

"(हे हृदय!) देखो, स्वप्नावस्था में पहुँचकर जीवन का नाश हो रहा है। मेरे प्राण अतीत के किस प्रिय को खोजते-खोजते थककर हाँफते रहते हैं। सुख-दुःख को भुलाकर वह आत्मा व्यर्थ ही मोहग्रस्त होकर सोया रहता है। किन्तु जब दुःखों से जगाया जाता है, तब यही जगत् के पदार्थ उसके सम्मुख उपस्थित हो जाते हैं।"

इस लघुकाय गम्भीर कृति में अद्भुत भाव-वैविध्य है। इसमें प्रेम की गम्भीरता और विरह की दाहकता प्रमुख है। शास्त्री जी आधुनिक हिन्दी गीत की नवीन शिल्प-संरचना से भी तादात्म्य स्थापित किया। हिन्दी गीत के नवीन शैल्पिक ढांचे में स्थाई-अन्तरा की व्यवस्था, मात्रिक छन्द का प्रयोग, विशिष्ट अन्त्यानुप्रास योजना के साथ सम्बोधन-गीत जैसे पश्चिमी प्रारूपों को समावेश था। संस्कृत में इस शैली की रचनाएँ अल्प ही उपलब्ध हैं। तब शास्त्री जी ने 'काकली' के माध्यम से एक नई भावभूमि पर कदम बढ़ाए। मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' के प्रसिद्ध गीत 'दोनों और प्रेम पलता है' को स्मरण कराता-सा 'काकली' का यह गीत इसका उदाहरण है:

स्नेहे को न दहति निजदेहम्?
सखि, पतन्तमयि, पश्य पतङ्गन्दीपे दीपितदेहम्;
स्नेहे को न दहति निजदेहम्?
सुरभौ सदा विटपिनः कथमयि, पातयन्ति नु दलानि,
दर्शयन्ति किन्ते न समन्तात्स्वीयंवसन्तस्नेहम्।
स्नेहे को न दहति निजदेहम्?
ज्वलदङ्गारं खादति किं नु विहगचञ्चुरश्चकोरः;
दोपयत्यसौ किं प्रियसखि! सुस्नेह लगौरवगेहम्?

स्नेहे को न दहति निजदेहम्?

ललितललामकलितगीतं स्फीतम्मधुमोहनभावम् ;

देहेदहनमपि प्रेमप्रसङ्गे वक्ति बीतसन्देहम् ।

स्नेहे को न दहति निजदेहम्?

(सखी! देख न, दीपक की लौ में झुलसता यह पतंग-दीप से आलोकित उसका तन स्नेह में ही भस्म होता है। हे सखी, कौन है जो स्नेह में अपना शरीर नहीं जलाता? वनों के सुरभित वृक्ष सदा ही क्यों पत्तों को झराते रहते हैं? क्या यह उनके वसन्त-स्नेह का ही परिचय नहीं, जो चारों ओर बिखर जाता है? हे सखी, कौन है जो स्नेह में अपना शरीर नहीं जलाता? देखो-चकोर पक्षी भी दहकते अंगार को चोंच से क्यों खाता है? प्रिय सी! क्या वह अपने प्रगाढ़ स्नेह-गृह का ही गौरव नहीं मानता? हे सखी, कौन है जो स्नेह में अपना शरीर नहीं जलाता? और जब ललितललाम का गीत गूँजता है- सुगठित, अलंकार-युक्त, मधुमय मोहिनी भावनाओं से सराबोर, तो वह भी कहता है निःसंकोच- प्रेम-प्रसंगों में दाह से कोई भय नहीं। सखी, सच ही तो है स्नेह में कौन अपना शरीर नहीं जलाता?)

शास्त्री जी के रचनाकर्म पर उनके हिन्दी, बांग्ला, उर्दू और अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। इससे वे नए भावबोध और नवीन शिल्प से समन्वित रचनाएँ संस्कृत साहित्य को दे सकें। शास्त्री जी ने पन्त की कविता 'छाया' और 'निराला' की मुक्त छन्द की प्रसिद्ध कविता 'जुही की कली' का संस्कृत अनुवाद भी किया। समकालीन छायावादी काव्य-धारा की प्रवृत्तियाँ काकली की रचनाओं के माध्यम से संस्कृत में आती हैं। उनकी भाषा में मौलिकता है। विशिष्ट शब्द-चयन, यमक और अनुप्रास की ध्वन्यात्मकता, नये छन्द-विधान, नवीन बिम्ब-रचना से संपन्न उनका संस्कृत काव्य पूर्व परम्परा का पिष्टपेषण न होकर मौलिक व्यक्तित्व की स्थापना का सफल प्रयास है। इस दृष्टि से ये श्लोक देखे जा सकता हैं। ऐसा शब्द-चयन और उनका क्रम-निर्धारण असाधारण प्रतिभा से ही सम्भव है:-

कोकिलकललापेङ्गितनृत्यन्मञ्जुमञ्जरी पुञ्जम्,

गुञ्जच्चञ्चुरचञ्चरीकसञ्चयसञ्चारितकुञ्जम्।

बालकुरङ्गापाङ्गतरङ्गायासितशम्पाकम्पा,

सीदतिपुण्ये वृन्दारण्ये सा क्रियतामनुकम्पा॥

(पुण्यभूमि वृन्दावन में, जहाँ कोयल की कलरव-लहरियों से पुष्प-गुच्छ नाचने लगते हैं और भौंरों की गुंजार से लताओं के कुंज गूंज उठते हैं, वहाँ हिरण-शिशु की चपल दृष्टि की लहर से श्वेत चम्पा-पुष्पों की डालियाँ हल्के-हल्के थरथरा उठती हैं। ऐसा रमणीय दृश्य दिखाता हुआ वृन्दावन अपनी करुणा से हमें अनुगृहीत करे।)

'बन्दीमन्दिरम्' को मेघदूत की भान्ति 'कश्चिद्' से आरम्भ कर, मन्दाक्रान्ता छन्द में ही मेघदूत जितने श्लोकों में पूर्ण करने से मेघदूत की शैली के अनुकरण का भ्रम हो सकता है लेकिन यह कृति कथ्य और शिल्प की दृष्टि से भिन्न और मौलिक है। इसका कथानक तत्कालीन राजनीतिक स्थितियों से जुड़ा है।

वर्णन में बहिमुर्खता प्रधान है। इसका किशोर नायक भी यातना सहता है लेकिन उसकी यातना मेघदूत के नायक की प्रेम-वेदना से भिन्न है। उसे स्वतन्त्र-आन्दोलन में भाग लेने के कारण कारागार में बन्द किया गया था। किशोर के परिवार में एक बहन के अतिरिक्त कोई नहीं है। कारागार की यातना सहते हुए वह या तो देश के बारे में सोचता है या अपनी बहन के बारे में। उसका सपना है कि मुक्त होने पर वह किसी योग्य वर से अपनी बहन का विवाह करवाएगा। उसके जीवन की विडम्बना तब विशेष रूप से उद्घाटित होती है, जब वह जेल से छूट कर गाँव आता है तो उसे पता चलता है कि उसकी बहन किसी और के साथ जा चुकी है। इस प्रकार यह कृति राजनीतिक स्थितियों से ही नहीं जुड़ी है वरन् सामाजिक विद्रूपतओं का भी चित्रण करती है। व्यंग्य-वृत्ति शास्त्री जी के साहित्य की स्थाई विशेषता है। 'वन्दीमन्दिरम्' में भी हमें इसका रोचक रूप मिलता है। सामाजिक अर्थ-भेद और न्याय के सन्दर्भ में उनके व्यंग्य अधिक मुखर हैं।

दुग्धे दध्नि त्वरित-कलिते चापि हैयङ्गवीने
मुग्धः कृष्णश्चटुल-चरणचारयामास धेनूः
वृन्दाटव्यामिह नवगतान् साम्प्रतं पौरवृद्धाः
गोहिंसार्थं रचितभवनावृत्तिमार्गे वदन्ति ।

''जब कभी दही-दूध के घड़े सजाए जाते और ग्वाल-बालों के साथ कृष्ण गोपियों की गायों को हँसी-खुशी चराने ले जाते थे, तब उनके चंचल चरणों से वृन्दावन की भूमि पुलकित हो उठती थी। वही कृष्ण की गोचर-लीला आज स्मरण आती है। परन्तु देखो, आज के नगरों के वृद्ध कहते हैं कि यह गोचर परम्परा अब कहाँ? अब तो इसके स्थान पर गोहत्या के लिए ही भव्य भवन खड़े किए गए हैं। उन्हीं मार्गों पर जीवन का चक्र चलता है।'' कृष्ण की पावन गोचर-लीला और आधुनिक नगरों में गोहत्या के लिए बने भवनों की तुलना में तीखा व्यंग्य है। कृष्ण की बाल-लीला के स्मरण के साथ वर्तमान की कटु विडम्बना की टकराहट प्रभावशाली परिदृश्य उपस्थित करती है। 'बन्दीमन्दिरम्' के कई श्लोक स्पष्ट करते हैं कि अभाव और शोषण पर प्रहार शास्त्री जी के रचना-कर्म के केंद्र में आरम्भ से ही था:

नग्नानेतान्ननु तनुतनून् बालकान् लोकमाना
पीतामेतां त्वमपि जरठे शाटिकामद्य वस्से
नैवं स्तन्यं न च फलमलं कामयन्तेऽङ्कमेते
जाने पश्चाद्विहितवदने तत्त्वतो मृत्तिकाऽसि

देखो जरा-ये नंगे और हड्डियों से ढाँचे बने बच्चे, जिनके तन पर वस्त्र का नाम नहीं, भूख से कराहते हुए गलियों में भटक रहे हैं। इनके शरीर क्षीण हैं, नेत्रों में निराशा भरी है, और इनके पैरों में चलने की शक्ति भी जैसे क्षीण पड़ गई है। और उधर-तुम हो, वृद्ध! पीली रेशमी साड़ी पहनकर, ऐश्वर्य का प्रदर्शन करते हुए, मानो जीवन का गौरव तुम्हीं ने पा लिया हो। पर जरा सोचो, इन बच्चों को न दूध उपलब्ध है, न ही फल जैसा साधारण आहार। उनकी एकमात्र आकांक्षा है-माँ की गोद का स्नेह। पर मैं भली-भाँति जानता हूँ, यह आभिजात्य, यह आडम्बर और यह रेशमी वस्त्र-सभी क्षणभंगुर हैं। जब समय अपना विधान करेगा, तब यह सब विलास विलीन हो जाएगा, और अन्ततः तुम्हें भी उसी सत्य का सामना करना होगा कि तुम भी केवल मिट्टी हो। यहाँ करुणा के साथ व्यंग्य स्पष्ट रूप से उभरा है:-

क्षुत्क्षामाणां श्रवणकुहरे क्रन्दनं मानवानां
कारं कारं किमसि कृपणे रत्नगर्भा भवन्ती
किं पार्श्वस्थैः परिचित जलैः सप्तभिस्सागरैस्तै-
र्लज्जासिन्धौ कुजननि मतं मज्जनं पूर्णतस्ते ।

यहाँ श्लेषात्मक प्रयोग से और भूखे मनुष्यों की करुण पुकार तथा पृथ्वी की रत्न-सम्पन्नता के विरोधाभास के माध्यम से तीखा व्यंग्य किया गया है। "रत्नगर्भा" पृथ्वी अपनी ही सन्तान की भूख नहीं मिटा पा रही। कवि ललकारता है कि यदि तू सचमुच इतनी धनी है, तो इस वैभव को लज्जा-सागर में डुबो दे, क्योंकि यह अधूरा वैभव केवल अपमान है। देखती हो न, चारों ओर भूख से कातर मनुष्यों का विलाप? उनके क्षीण शरीर और सूखे गले से उठती यह करुण पुकार आकाश तक गूँज रही है। और तू-हे पृथ्वी! तू तो अपने गर्भ में अनगिनत रत्न समेटे बैठी है, पर तेरी सन्तान दाने-दाने को तरस रही है। यह तेरा वैभव नहीं, तेरा कंजूसपन है! तेरे इर्द-गिर्द सातों सागर खारे जल से लबालब भरे पड़े हैं। पर जरा सोच, इनसे भूखों का क्या पेट भरेगा? यदि तेरी यही सम्पन्नता है, तो इसे ऐश्वर्य मत समझ, इसे तो शर्म समझ। सच कहूँ-तेरी यह तथाकथित "पूर्णता" व्यर्थ है; इसे तो लज्जा के अथाह सागर में डुबो देना ही उचित है। क्योंकि जब तेरी गोद में पलने वाले ही भूख से तड़प रहे हैं, तब तेरी रत्न-सम्पन्नता केवल एक कलंक है। यहाँ कवि के स्वर में आक्रोश और लांछन की दाहकता भी है।

'बन्दीमन्दिरम्' की खण्ड-काव्य के रूप में निर्मिति के गहरे निहितार्थ हैं। संस्कृत काव्य-परम्परा की जटिल प्रबन्धात्मक शैली को चुनकर जहाँ उन्होंने अपनी क्षमता का परिचय दिया है, वहाँ स्वतन्त्रता संग्राम और देशोद्धार को प्रतिपाद्य बनाकर स्थिति को आधुनिक युगबोध से जोड़ा है। इस दिशान्तर का प्रथम संकेत इस तथ्य में निहित है कि नायक की साधारणता के ज्ञापन के लिए इस कृति में उसका कोई नाम तक नहीं है। वह युवक देश को परतन्त्रता की जकड़न से मुक्त करवाने के प्रयास में कारावास की सजा पाता है। मातृ-पितृ-हीन यह अविवाहित युवक देश के शोषण के प्रति चिन्तित और स्थितियों के प्रति आक्रोशित है। उसकी दृढ़ आस्था है कि स्वतन्त्रता की देवी की प्रतिष्ठा बन्दियों के मंदिर में ही होती है।

'काकली' और ' बन्दीमन्दिरम्' शास्त्री जी के संस्कृत लेखन के दो ध्रुव हैं-एक ओर प्रकृति और हृदय का मधुर गीत, दूसरी ओर बंधन और मुक्ति की सामाजिक चेतना। जीवन की लीलात्मक गति और उसके विविध रूपक सामने लाने वाला 'लीलापद्मम्' इन दोनों के बीच एक सेतु है। 'लीलापद्मम्' का बहुलांश पत्र-पत्रिकाओं तथा 'शिप्रा' और 'काकली' की भूमिकाओं में प्रकाशित हुआ है। ३०० मुक्तकों के संकलन में 'राधालास्य' और 'कृष्णालास्य' दो उपखण्ड हैं। ये मुक्तक विभिन्न रसों से युक्त, गीत, संगीत एवं नृत्य पर आधारित और विविध छन्दों तथा मोहक अनुप्रासों से सज्जित हैं। इनकी सामासिक शैली पण्डितराज जगन्नाथ की कृति 'भामिनीविलास' से साम्य रखती है। इन मुक्तकों की रचना तब हुई, जब वे विराट हिन्दी महाकाव्य 'राधा' का आरम्भिक प्रारूप तैयार कर रहे थे। यह तथ्य शास्त्री जी के हृदय में स्थित गूढ़ राधा-भाव की स्पष्ट अभिव्यक्ति है। कवि ने माधुर्य और लालित्य के बहुत समृद्ध प्रकृतिपरक बिम्बों के माध्यम से नए युग की राधा की मूर्ति गढ़ी है। उन्होंने कृष्ण की भी एक विशिष्ट छवि निर्मित की है। राधा की यह छवि शास्त्री जी की रागात्मक चेतना का प्रतिबिम्ब है:-

ज्योत्स्नास्नाते निशीथे किसलयशयिते मर्मरे स्निग्धसान्द्रे
चान्द्रम्पीयूषमाचामति चटुलचलच्चञ्चचञ्चच्चकीरे,
वेल्लत्कल्लोलमाला कलकलकलिते यामुने काम्यकूले
मन्दं मन्दं कदम्बं स्पृशति मधुमये माधवीये समीरे
किं-किं-किं किङ्किणीनां कणकणरणन कङ्कणद्वन्द्वबन्धि
श्रावं-श्राव विरावं चलचरणमिलन्मुञ्जुमञ्जीरजातम्
लीलाशीलालिलोलत्करतलकलितोत्तालताल, सहास्य
लास्यं श्रीराधिकायास्तिरयतु दुरितं मानसं मानवानाम्। - लीलापद्यम्

"अर्धरात्रि का समय है। चन्द्रकिरणों से स्नात वन, किसलयों की शय्या पर जैसे स्वयं विश्राम कर रहा हो। वायु में स्निग्धता है, वातावरण में मर्मरित निस्तब्धता-उस निस्तब्धता के भीतर भी एक अदृश्य संगीत बह रहा है। चन्द्रमा का शीतल अमृत टपक-टपक कर धरा को आलोकित कर रहा है और चकोर अपनी चंचल दृष्टि से उस अमृत का लोभपूर्वक पान कर रहा है। काम्य यमुना के तट पर दृश्य और भी अनुपम है। लहरों की मालाएँ कलकल निनाद में झूम रही हैं, मानो स्वयं जलनील रत्नहार के रूप में तट को अलंकृत कर रही हों। वहीं पर मधुमय माधवी ऋतु का मन्द-मन्द बहता समीर कदम्ब की डालियों को सहला जाता है, जैसे उसका कोमल स्पर्श वृक्ष को रसमग्न आलिंगन दे रहा हो। और तभी उस सौन्दर्यमय वातावरण में राधिका प्रकट होती हैं। उनके स्वर्णकंकणों की किंकिणियाँ झंकार भरती हैं, उनके चरणों में बँधी मञ्जुल मञ्जीराएँ मृदुल स्वर से गूँज उठती हैं। उनकी ललित करतलियाँ ताल-वाद्यों को स्पर्श करती हैं, जिस स्पर्श से वातावरण गगनमय संगीत से भर जाता है। हास्य और लास्य से संयुक्त राधा का रमणीय नृत्य केवल कलारूप न होकर मानो मानव-हृदय के समस्त दुःख-दुरितों का परिमार्जन करने वाली दैवी लहर है। उस रात्रि का सौन्दर्य, वह नृत्य और वह दैवी लास्य-मनुष्य के चित्त को शुद्ध कर देता है और आत्मा को आनन्द की पूर्णता का अनुभव कराता है। कवि कल्पना करता है:-

राधाङ्गाधाररागद्रुतिनुतिभिरहो यन्महो नाध्यगच्छ-
न्नावापद्वा प्रवातैर्बहलपरिमलैः क्षालनादच्छलक्ष्मीम्
कालिन्द्याः कृष्णतृष्णं तटनिकटतमस्तोमसंक्रान्तकायं
विच्छायं स्वार्थसाविमलयतु मनस्तज्जलं कज्जलं मे ।

"राधा के अंगों का आधार बनकर जो राग और लय की स्तुतियों से महिमामय हुआ, वह यश मेरे ध्यान में कभी पूरी तरह प्रकट नहीं हो पाया। न ही कालिन्दी के बहते हुए तीव्र और सुगंधित पवनों ने, अपनी परिमल-समृद्ध बयार से उसे धो-पोंछ कर उसका सौन्दर्य उजागर किया। यमुना का वह जल, जो कृष्ण के प्रति तीव्र प्यास उत्पन्न करता है और जो उसके तट के समीप एकत्रित भीड़ के शरीरों से सम्पर्क पाकर मानो गहन काजल-सा प्रतीत होता है, वह मेरी चित्त-वृत्ति को उसके स्वार्थमय मलिन आवरण से शुद्ध और निर्मल कर दे।''

१९३५ में काशी में महामना मदनमोहन मालवीय की उपस्थिति में हुए एक आयोजन में 'मुनिनामपि मनः' अंश को लेकर एक समस्या-पूर्ति-प्रतियोगिता हुई थी, जिसके निर्णायक-मण्डल में संस्कृत के अनेक

दिग्गज उपस्थित थे। तब शास्त्री जी ने छह ऋतुओं और नौ रसों को आधार बनाकर जिन सौलह श्लोकों की रचना की थी, उनमें से दो श्लोक उद्धृत हैं:-

वसन्त- **नुवन्मल्लीवल्ली कुसुमितवने वाति पवनो**
ध्वनन् धीरं-धीरं पिबति मकरन्दं मधुकरः।
रसालं कालेऽस्मिन् विकलयति पुंस्कोकिलकुलं
मधुर्मन्दं मन्दं मदयति मुनीनामपि मनः॥

(फूले फूल वन में मल्लिका की बेलें हिलाती-झुलाती हुई हवा बह रही है। होले-होले गुंजार करता हुआ भौरा फूल-मधु पी रहा है। वसन्त आया नहीं कि कोयल की बोली बदली, अब वह हूक उठाने वाली कूक बन गयी है और रसाल (रसिक; आम का पेड़) को बड़ी बेदर्दी से व्याकुल किये दे रही है। अरे, इन पेड़-पौधों की कौन कहे, वसन्त तो स्थितप्रज्ञ मुनियों के मन को भी मतवाला बना देता है!)

वर्षा- **किरन्नुर्व्या धारां विमलतरवारामविरतं**
वितन्वन्तन्वङ्गीतनुमनसि मोदान्नमनसिजम्।
न गोभिर्गोविन्दो घन इह तडिद्भिः खलु यथा
सखे, खे खेलन् सन् लयति मुनीनामपि मनः!

(क्या कहना इस बादल-दल का! धरती पर उज्ज्वल जलधार बरसाता है; छीजती हुई छोहरियों के छोटे-से मन में जाने क्या कुछ भारी-भरकम भर देता है! गऊओं से घिरे हुए बाल-गोपाल की छटा न्यारी है। मगर यह तो जब आकाश चढ़कर बिजलियों से खुल खेलता है तब ऐरे-गैरों की क्या बात, मुनि-महात्माओं का मन भी कैसा-कैसा तो करने लगता है!)

शास्त्री जी के लेखन की सबसे बड़ी विशेषता प्राक्तन और आधुनिक का संगम है। उनका संस्कृत काव्य इसका रोचक उदाहरण है। परम्परा से कथ्य, शैली और शिल्प के अनेक तत्त्व ग्रहण कर भी इसमें युगानुरूप आधुनिक बोध का समावेश है, साथ ही शैली और शिल्प के अनेक नए प्रयोग भी। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, उनके द्वारा आधुनिक काव्य-रूपों का प्रयोग। उन्होंने यह प्रयोग कौतुक के लिए नहीं, बल्कि संस्कृत साहित्य को नई समृद्धि देने के लिए किया है। उन्होंने संस्कृत में गजलें भी कहीं। गजल की रवायत को देखते हुए संस्कृत में गजल कहना आसान काम नहीं है। शास्त्री जी ने गणतन्त्र दिवस पर आयोजित होने वाले आकाशवाणी के सर्वभाषा कवि-सम्मेलन में एक बार जो गजल भी पढ़ी थी, उसके तग्गज्जुल से प्रमाणित होता है कि यह आकस्मिक प्रयोग नहीं रहा होगा। मतला और एक शेर देखिये:

निस्वं निरात्मविश्वमिदं पाति भारतम्
मैत्रीस्पृशादृशाऽस्ति जिताराति भारतम् !
आधाय धवलधारमुरसि तारहारवत्
गङ्गातरङ्गमङ्गशिवं भाति भारतम् !

(भारत उस शक्ति का नाम है, जो निःस्व होकर भी सम्पूर्ण विश्व का पालन करती है। यह ऐसा देश है, जिसकी दृष्टि मैत्री से ओतप्रोत है, जिसने अपने शत्रुओं को भी जीत लिया है। भारत की शोभा उसके वक्षस्थल पर

गंगा की उज्ज्वल धाराओं के रूप में चमकती है। जैसे कोई तारामण्डल अपनी किरणों से देदीप्यमान हो, वैसे ही गंगा की तरंगें भारत के अंग-अंग को पवित्र और मंगलमय बनाती हैं।)

शास्त्री जी के एक 'सा' नामक एक संस्कृत कहानी-संग्रह का उल्लेख मिलता है। इनकी कहानियों में युगबोध की सजगता उल्लेखनीय है। प्रेमचन्द की भान्ति उनकी कहानियों का स्वर सुधारात्मक है। इसीलिए उन्होंने विधवा-विवाह तथा अन्य स्त्री-समस्याओं से जुड़ी कहानियों की भी रचना की। 'प्रोषितपतिका' और 'स्वयंसिद्धा' उनकी उल्लेखनीय कहानियाँ हैं।

'प्राच्यसाहित्यम्' वैदिक काल से लेकर आधुनिक साहित्य पर लिखित शास्त्री जी के महत्त्वपूर्ण प्रबन्धों का संग्रह है। इसका एक वैकल्पिक नाम 'श्रव्यकाव्यस्य क्रमिकोविकास:' भी प्रस्तावित था। इसमें उन्होंने संस्कृत आलोचना में आधुनिक शैलियों का समावेश किया है। शास्त्री जी के गद्य साहित्य में संस्कृत के तीनों महान गद्यकारों-- सुबन्धु, दण्डी और बाण-- की विशेषताएँ समाहित हैं।

शास्त्री जी द्वारा रचित संस्कृत साहित्य की लेखन-अवधि अल्प है किन्तु उसका परिमाण विपुल और महत्त्व अमूल्य है। उनके व्यक्तित्व का यह अध्याय उनकी सम्पूर्ण रचनाशक्ति की नींव में छिपा है। यह कालखण्ड उनकी सृजन-प्रतिभा के लिए उस साधना-भूमि की तरह था, जहाँ उन्होंने काव्य की लय, भाषा का सौष्ठव और शास्त्रीय अनुशासन आत्मसात किया। संस्कृत भाषा में उनका सृजन किसी आकस्मिक जिज्ञासा या अभ्यास की साधारण परिणति न होकर, संस्कृत काव्य-परम्परा के प्रति उनके गहन अनुराग, संस्कार और काव्य-प्रतिभा की प्रमाणिक अभिव्यक्ति है। वह ऐतिहासिक तथ्य भर नहीं, बल्कि उनकी काव्ययात्रा का जीवन्त आधार है। यह हमें स्मरण दिलाता है कि भारतीय साहित्य में किसी भी नूतनता का स्रोत प्राचीन परम्परा से ही फूटता है। शास्त्री जी ने इस सत्य को अपने जीवन और साहित्य दोनों से सिद्ध कर दिखाया। धीरे-धीरे शास्त्री जी ने हिन्दी को साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। हिन्दी में उनकी रचनाओं को जो ख्याति मिली उसके पीछे उनमें स्थायी रूप से जीवित रहने वाले संस्कृत के संस्कार थे। उन्होंने संस्कृत को आधुनिक विषयों और भावभूमियों से जोड़ा। सामान्यत: संस्कृत काव्य में स्वतन्त्रता आन्दोलन, कारावास जीवन, आधुनिक प्रेमानुभूति या व्यक्ति के आत्मसंघर्ष जैसे प्रसंग अल्प हैं। लेकिन शास्त्री जी ने इन विषयों को संस्कृत में भी उतनी ही स्वाभाविकता से व्यक्त किया, जितना हिन्दी या अन्य आधुनिक भाषाओं में सम्भव था। उनकी काव्यदृष्टि इस विश्वास से सम्पन्न है कि भाषा बन्धन नहीं अभिव्यक्ति का माध्यम है। यह अभिव्यक्ति संस्कृत में भी उतनी ही जीवन्त और मार्मिक हो सकती है, जितनी किसी आधुनिक भाषा में। शास्त्री जी की संस्कृत रचनाएँ पढ़ते समय पाठक को यह नहीं लगता कि वह किसी अतीत हुई भाषा का साहित्य पढ़ रहा है, अपितु उनका रसास्वादन करते हुए उनमें वह जीवन की लय, भाव की तरलता और अनुभूति की ऊष्मा सम्पूर्ण ताजगी के साथ विद्यमान पाता है।

-९०६, झेलम अपार्टमेंट,
प्लाट-८, सेक्टर-५, द्वारका,
नई दिल्ली-११००७५

Chhath — The Grand Festival of a Refined Civilization

-Dr. Dhananjay Kumar Mishra

India — this name does not merely signify a geographical or political territory; it embodies life, culture, tradition, and the vast consciousness of spirituality. Amidst innumerable diversities and distinctions, India's true identity lies in its refined civilization and its time-honored spiritual and ethical traditions.

The ancient Ārṣa texts — the Vedas, Upaniṣads, Rāmāyaṇa, Mahābhārata, and Purāṇas — are not just religious scriptures; they are eternal sources of wisdom, guiding humanity toward moral, social, and spiritual evolution. These sacred texts emphasize righteous action (karma) and devotion (bhakti) as the two wings of life, inspiring human beings not only to seek personal well-being but also to contribute to the welfare of society and nature alike.

"Samājasya hitam śāstreṣu nihitam" — The welfare of society lies in the Scriptures

The essence of Indian civilization is the purity of action and conduct. Our actions must be noble, pure, and beautiful, for through them the welfare of society and the upliftment of humanity are achieved. The preservation of nature and the environment is also subtly enshrined in these texts. Indeed, as the saying goes — "Samājasya hitam śāstreṣu nihitam"- the good of society is contained in the scriptures.

The lunar month of Kārtika holds special sanctity in the Indian calendar. It is the eighth lunar and seventh solar month of the year, named after the Kṛttikā constellation. It is believed that bathing in cool waters during this month purifies one's sins and elevates both earthly and heavenly existence. Across India, from the first to the full moon day of Kārtika, devotees bathe before sunrise and offer Arghya (oblations) to the rising sun, invoking spiritual illumination and inner purity.

We Worship the Setting Sun Too

In Eastern India — particularly in Bihar, Jharkhand, and Eastern Uttar Pradesh — there exists a unique festival that glorifies the worship of the setting sun. Known as Chhath Puja, it occurs in the bright fortnight of Kārtika after Diwali. This festival refutes the old saying that "everyone worships the rising sun, but none the setting one."

Through faith, discipline, purity, and devotion, Chhath transforms this belief into spiritual truth — showing reverence not only to the dawn of life but also to its dusk. Today, Chhath is no longer confined to the Gangetic plains; it has crossed regional and national borders — celebrated with equal fervor in Nepal, Sri Lanka, Mauritius, Fiji, Trinidad, Suriname, Tobago, England, and even the United States. Wherever the people of Bihar and Eastern India have migrated, they have carried this festival of faith and purity with them, making it a global symbol of Indian spirituality.

'Ṣaṣṭhī' — The Linguistic Root of 'Chhath'

The term Chhath originates from the Sanskrit word Ṣaṣṭhī (meaning the sixth day). It follows the festival of Diwali and extends for four days, with the most sacred observance falling on Kārtika Śukla Ṣaṣṭhī. This festival is also known by various local names — Dālāchhath, Chhathi Mai Puja, Sūrya Ṣaṣṭhī, or the Great Festival (Baṛka Parv).

Chhath is celebrated twice a year — once in Chaitra (spring) and again in Kārtika (autumn). Of the two, the Kārtika Chhath — also called Katikī Chhath — is more widely observed and venerated.

The Four Sacred Days of Chhath: A Journey of Devotion

Chhath is a four-day festival of rigorous fasting, discipline, and devotion:

1. Nahāy-Khāy (Fourth day of Kārtika Śukla) — The ritual purification of home and body. Devotees take a holy bath and consume a pure, vegetarian meal prepared with rock salt and ghee, symbolizing the beginning of the vow.

2. Kharna (Fifth day) — A day-long fast without water, broken only after moonrise with kheer-puri (sweet rice pudding and fried bread) as prasad, shared with community members.

3. Ṣaṣṭhī (Sixth day) — The principal day. Offerings of thekua (sweet wheat cakes), rice laddus, and seasonal fruits are prepared. Devotees, often fasting without water, carry bamboo baskets filled with offerings to the riverbank and offer Arghya to the setting sun, chanting

"Ehi sūrya sahasrāṃśo tejorāśe jagatpate,
anukampya māṃ deva gṛhāṇārghyaṃ divākara."

4. Saptamī (Seventh day) — The concluding day. The devotees again visit the riverbank before dawn to offer Arghya to the rising sun, marking the end of a 36-hour long waterless fast.

The devotees are known as Parvaitin — those who observe the sacred vow. It is a festival of complete restraint and inner purity. The Parvaitin sleeps on the floor, wears unstitched garments (usually sari or dhoti), and renounces comfort — symbolizing humility and devotion.

The Festival of Nature's Vision and Gratitude

Chhath is essentially a festival of Sun worship, but beyond that, it is a spiritual dialogue with Nature herself. In this observance, nature is not seen as a mere physical phenomenon, but as a divine manifestation. The worship of Uṣā (the first light of dawn) and Pratyuṣā (the last glow of dusk) reflects humanity's eternal gratitude toward nature's sustaining powers.

Sun Worship in the Tapestry of History

Since Vedic times, Sūrya worship has been an integral part of Indian spirituality. The ancient scholar Yāska placed the Sun among the foremost deities of the heavens. The Viṣṇu Purāṇa, Bhāgavata Purāṇa, and Brahma Vaivarta Purāṇa all describe elaborate traditions of Sun worship. Over time, this devotion evolved into the form of Chhath Puja, deeply rooted in the collective consciousness of the people.

Temples dedicated to the Sun still stand as witnesses — at Deo in Aurangabad, Bargāon in Rajgir, Pandarak and Ulār near Patna, and Madhusrava near Arwal. The Sun is also revered as the god of health and vitality, his rays possessing curative and life-giving powers — a truth realized by India's ancient sages

Unlike ritualistic worship, Chhath is free from priestly intervention and ostentation. It is a festival of simplicity, purity, and direct communion with the divine through faith and discipline.

Spiritual and Philosophical Dimensions

Chhath is not merely a ritualistic observance; it is a spiritual discipline that integrates faith, self-control, moral purity, and ecological awareness. It teaches that true devotion does not dwell in extravagance but in inner sanctity and purity of intention.

Through its four-day observance, Chhath symbolizes the human journey — from purification (Nahāy-Khāy), through renunciation (Kharna), to surrender (Arghya), and finally, illumination (Saptamī). It harmonizes human life with the rhythm of nature and the cosmos, reminding us of the oneness of man, nature, and divinity.

Conclusion

Chhath is not just a festival — it is the living essence of Indian spirituality and civilization. It embodies discipline, devotion, simplicity, and ecological consciousness. While offering water and milk to the Sun, the devotee offers the purity of his soul and the sincerity of his heart.

It is this union of faith, restraint, gratitude, and universal harmony that makes Chhath not merely a festival of the people of Bihar, but a radiant festival of humanity and divinity itself — a sublime hymn to the eternal Sun, the sustainer of life and light.

-Head, Dept.of Sanskrit
S.K.M. University Dumka, Jharkhand

एक साहित्यिक त्रैमासिक शोध पत्रिका

एवं

समकालीन साहित्य के रचनात्मक मूल्यांकन की जीवन्त प्रस्तुति

तथा

सम्पूर्ण देश के प्रसिद्ध साहित्य-साधकों के साथ ही शोध छात्रों एवं नवोदित प्रतिभाओं की सशक्त लेखनी की संयुक्त प्रस्तुति

"संस्कृत मञ्जरी"

(आई.एस.एस.एन–2278–8360)

संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रचार-प्रसार हेतु सतत प्रयत्नशील दिल्ली संस्कृत अकादमी, दिल्ली सरकार द्वारा प्रकाशित एक ऐसी सम्पूर्ण साहित्यिक पत्रिका जो सहज मानवीय संवदेनाओं, शोध-निबन्धों तथा उदात्त जीवन-मूल्यों का अनूठा संगम और प्रत्येक वर्ग के पाठक-समुदाय की अपेक्षा के अनुकूल पठनीय एवं संग्रहणीय है।

मूल्य:- एक प्रति रु. 25/- मात्र, वार्षिक सदस्यता शुल्क रु.100/- मात्र

सुरुचि सम्पन्न स्वस्थ एवं सकारात्मक अभिव्यक्ति की संवाहिका

"संस्कृत मञ्जरी"

के स्थायी अध्येता बनें।

आज ही अपना वार्षिक सदस्यता शुक्ल दिल्ली में भुनाये जाने योग्य बैंक ड्राफ्ट दिल्ली संस्कृत अकादमी के नाम से अथवा अकादमी के बैंक खाते सं. 01701040002562285, आई.एफ.सी. कोड- IBKL 0000170 (IDBI BANK- Preet Vihar) **में ऑन लाईन भेज कर सदस्यता प्राप्त करें। शुल्क मल्टी सिटी चैक द्वारा भी स्वीकार्य होगा।**

पत्र व्यवहार का पता -

सचिव/ सम्पादक, दिल्ली संस्कृत अकादमी, दिल्ली सरकार

प्लाट सं.-५ झण्डेवालान, करोलबाग, नई दिल्ली-११०००५

दूरभाष सं.- ०११-२०९२०३६३

RNI No.
DELSAN/2002/8921

प्रकाशक एवं मुद्रक सचिव, दिल्ली संस्कृत अकादमी
के स्वामित्व में अकादमी के कार्यालय प्लाट सं.-५,
झण्डेवालान, करोलबाग, नई दिल्ली-११०००५
से प्रकाशित